मगसिर कृष्ण १, रविवार, दिनांक २९-१२-१९७४, श्लोक-१०-११-१२, प्रवचन-१९

समाधितन्त्र। विशेष।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥ १०॥

जैसे - अपने शरीर का नाश होने पर, बहिरात्मा अपना नाश समझता है;... यह तो शरीर पर जड़ है। उसका नाश होने पर मेरा नाश हुआ ऐसा अज्ञानी मानता है। क्योंकि शरीर से भिन्न चीज़ हूँ, आनन्द, सच्चिदानन्दस्वरूप की तो इसे खबर नहीं। तो शरीर के नाश के समय, अरे! अब मैं जाता हूँ, मर जाता हूँ। इस प्रकार अज्ञानी शरीर के नाश को अपना नाश मानता है। **वैसे ही स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश समझता है;...** उनका शरीर नाश होने पर वह आत्मा मर गया, ऐसा मानता है। अपने को ऐसा मानता है और पर के लिये (भी ऐसा ही) मानता है। **इस प्रकार वह अपने शरीर में आत्मबुद्धि-आत्मकल्पना करके दुःखी होता है...** किस प्रकार दुःखी होता है, यह कहते हैं।

अपने शरीर में आत्मबुद्धि-आत्मकल्पना करके दुःखी होता है और अन्य भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है। देखा! अपने को शरीर मैं, शरीर की होती दशा मैं, ऐसा मानकर आत्मबुद्धि की कल्पना पर में करके दुःखी होता है। ऐसे दूसरे जीव भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! समझ में आया? दुःखी प्रतिकूलता के कारण नहीं है। अपने स्वरूप के अभान के कारण अन्दर अज्ञान और राग-द्वेष के कारण दुःखी है। ऐसा न मानकर शरीर की पीड़ा में मुझे पीड़ा हुई, शरीर के रोग से रोग मुझे आया, शरीर का नाश होने पर मैं नाश हो गया, ऐसा बहिरात्मा मानता है। अर्थात् कि बहिर् चीज़ जो उसमें नहीं है, उसे अपनी मानता है, इसलिए उसमें आत्मबुद्धि कल्पना करके दुःखी होता है। और दूसरे कुटुम्बियों को भी ऐसा वह मानता है। स्त्री, पुत्र। ...है न?

स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के शरीर का नाश होने पर,... भी शरीर की प्रतिकूलता के

कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है... परन्तु उसमें आत्मबुद्धि कल्पित की है, इसलिए दुःखी होता है, ऐसा वह मानता नहीं। समझ में आया? यहाँ जैसे शरीर को अपना माना है कि जिससे शरीर में प्रतिकूलता होने पर इसने आत्मबुद्धि कल्पित की है कि यह मैं हूँ। ऐसी आत्मबुद्धि कल्पित करने से यह दुःखी है। शरीर की प्रतिकूलता से नहीं। वह तो ज्ञेय है। परन्तु भान में ऐसा है कि यह मैं हूँ। इसलिए इसने आत्मबुद्धि-कल्पना की और शरीर में ऐसा हुआ, ऐसा करके स्वयं दुःखी होता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र को भी ऐसा मानता है। उसे शरीर की प्रतिकूलता है, इसलिए दुःखी होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? ऐसा नहीं है।

वह पर वस्तु को, अपनी चीज़ को न जानता हुआ, पर को अपनी माना है, आत्मबुद्धि की है, इसलिए दुःखी होता है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बातें, भाई! कहते हैं, **अन्य भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है।** अज्ञानी। हों! ११ गाथा।

श्लोक - ११

एवंविधाध्यवसायात्किं भवतीत्याह -

***स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।**
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः॥ ११॥

विभ्रमो विपर्यासः पुंसां वर्तते। किं विशिष्टानां? अविदि-तात्मनां अपरिज्ञातात्म-स्वरूपाणां। केन कृत्वाऽसौ वर्तते? स्व-पराध्यवसायेन। क्व? देहेषु। कथम्भूतो विभ्रमः? पुत्रभार्यादि-गोचरः। परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्या-दिकमात्मीयमुषकारकं च मन्यते। तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्ताप-मात्मवधादिकं च करोति॥ ११॥

---

* सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं। सुयदाराईविसए मणुयाणं बड्ढए मोहो॥
अर्थात् इस प्रकार देह में, स्व-पर के अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा मनुष्यों के सुत, दारादिक जीवों में मोह प्रवर्तता है कैसे हैं - मनुष्य जिन ने पदार्थ का स्वरूप (अर्थात् आत्मा), नहीं जाना है, ऐसे हैं। *(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा १०, कुन्दकुन्दाचार्यः)*

इस प्रकार के अध्यवसाय से क्या होता है ? वह कहते हैं —

कहै देह को आत्मा, नहीं स्व-पर पहचान।
विभ्रमवश तन में करे, सुत-तियादि का ज्ञान॥ ११॥

अन्वयार्थ - (अविदितात्मनां पुंसा) आत्मा के स्वरूप से अज्ञात पुरुषों को, (देहेषु) शरीरों में, (स्वपराध्यवसायेन) अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण से, (पुत्रभार्यादिगोचर) पुत्र-स्त्री आदि के विषय में, (विभ्रम वर्तते) विभ्रम वर्तता है।

टीका - पुरुषों को विभ्रम अर्थात् विपर्यास (मिथ्याज्ञान) वर्तता है। कैसे पुरुषों को ? आत्मा से अनजान-आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुषों को। किस कारण से वह (विभ्रम) वर्तता है ? स्व-पर के अध्यवसाय से। (विभ्रम) कहाँ होता है ? शरीर के विषय में। कैसा विभ्रम होता है ? पुत्र-भार्यादिक विषयक (विभ्रम होता है)। परमार्थ से (वास्तव में) पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि आत्मीय (अपने) उपकारक नहीं होने पर भी, वह (विभ्रमित पुरुष) उन्हें आत्मीय तथा उपकारक मानता है, उनकी सम्पत्ति में (उपस्थिति में) वह संतोष तथा उनके वियोग में महासंताप और आत्मबधादि करता है।

भावार्थ - जिन पुरुषों को आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान नहीं है, वे अपने शरीर में, अपने आत्मा की और पर के शरीर में, पर के आत्मा की कल्पना करके, स्त्री-पुत्रादि के विषय में विभ्रान्त रहते हैं अर्थात् अपने शरीर के साथ, स्त्री-पुत्रादि के शरीर सम्बन्ध को ही अपने आत्मा का सम्बन्ध मानते हैं।

बहिरात्मा, स्त्री-पुत्र-मित्रादि अनात्मीय अर्थात् पर होने पर भी, उन्हें आत्मीय मानता है और अपने को अनुपकारक होने पर भी, उन्हें उपकारी मानकर उनकी रक्षा का प्रयत्न करता है; उनके संयोगादि से सुखी होता है और उनके वियोगादि से महासंताप मानता है तथा आत्मबध भी करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'.....तथा शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है, उसे अपना जन्म-मरण मानकर, मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा — ऐसा मानता है।

तथा शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है। जिसके द्वारा शरीर की

उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे अपना मित्र मानता है; जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है — इत्यादिरूप मान्यता होती है। अधिक क्या कहें? जिस-तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है।[१]'

'तथा जैसे जहाँ वह पागल ठहरा था, वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादि कहीं से आकर ठहरे, वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के अधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है। उसी प्रकार यह जीव, जहाँ पर्याय धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा धनादि कहीं से आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें अपना मानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो तब खेद-खिन्न होता है॥११॥[२]'

श्लोक - ११ पर प्रवचन

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः॥ ११॥

इसमें कहाँ है ? नहीं ? इसमें यह डाला नहीं, नहीं ? गुजराती। अपने गुजराती हो गया है। इसमें डाला नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी बार होगा तो डालेंगे।

टीका - पुरुषों को विभ्रम अर्थात् विपर्यास (मिथ्याज्ञान) वर्तता है। आत्मा को विभ्रम-विपर्यास-विपरीत बुद्धि क्यों वर्तती है ? इसका स्पष्टीकरण। **कैसे पुरुषों को ?**

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ-८१
२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-५१

यह विभ्रम बुद्धि होती है, वह कैसे पुरुषों को? **आत्मा से अनजान-...** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी, आनन्दस्वरूपी है, उसके अनजान को-उसे नहीं जाननेवाले को—ऐसे पुरुषों को मिथ्याज्ञान वर्तता है। आहाहा! अर्थात्? कि चैतन्यस्वरूप जो ज्ञानानन्द है, उसके जो अनजान हैं, उन्हें 'शरीर मैं हूँ' ऐसा विभ्रम होता है। पोपटभाई! आहाहा!

किस कारण से वह (विभ्रम) वर्तता है? स्व-पर के अध्यवसाय से। आत्मा और शरीर दोनों एक है, ऐसा माननेवाले को। आहाहा! बात बहुत संक्षिप्त है परन्तु मुद्दे की है। शरीर और आत्मा, स्व और पर, स्व ज्ञायकस्वरूप और पर राग और शरीरस्वरूप, इन दोनों के एकपने के अध्यवसाय की बुद्धि के कारण इसे विभ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! यहाँ ऐसा नहीं कहा कि दर्शनमोह के कर्म के कारण विभ्रम (उत्पन्न) होता है। आहाहा! वास्तव में तो दर्शनमोह का जो उदय है, वह जड़ की दशा है और यह मिथ्यात्व है, वह चैतन्य की विपरीत मान्यता है। दो के बीच तो अत्यन्त अभाव है। समझ में आया? दर्शनमोह के कारण मिथ्यात्व होता है, यह बात सच्ची नहीं है। इस शरीर को अपना मानता है, स्व-पर की एकता मानता है, इस मान्यता के कारण उसे दु:ख होता है। विभ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! अब ऐसी बात आवे वहाँ लोगों को ऐसा होता है, नहीं, कर्म के कारण भ्रमणा होती है। दर्शनमोह के कारण भ्रमणा होती है। यह उसकी मान्यता अत्यन्त विपरीत है। पर को एकत्व माननेवाला है, इसलिए उसे ऐसी बुद्धि होती है। समझ में आया?

शरीर के विषय में। कैसा विभ्रम होता है? पुत्र-भार्यादिक विषयक... स्त्री, कुटुम्ब, परिवार विषयक अर्थात् पर के ऊपर उसका लक्ष्य है न? इस कारण उसे विभ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! **परमार्थ से (वास्तव में) पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि आत्मीय (अपने) उपकारक नहीं होने पर भी,...** शरीर में विभ्रम कैसे होता है? कि पुत्र, स्त्री आदि विषय पर हैं, उसका—भ्रम का, यह परमार्थ से पुत्र, स्त्री आदि को अपना मानता है। **उपकारक नहीं होने पर भी,...** उनका उपकार यहाँ नहीं। आहाहा! **वह (विभ्रमित पुरुष) उन्हें आत्मीय तथा उपकारक मानता है,...** यह सब मेरे उपकारी हैं। मेरे शरीर के पोषक हैं, शरीर के रक्षक हैं। आहाहा! यह शरीर है, वह मैं हूँ और इस शरीर के सब रक्षक हैं, ऐसा उनका उपकार मानकर विभ्रम उत्पन्न करता है। कहो, समझ में आया?

माँ-बाप बालक को बढ़ा करे। उसे पढ़ावे, उसे व्यापार के रास्ते चढ़ावे। ऐसा नहीं करते? नहीं, नहीं। कुछ नहीं करते। समझ में आया? आहाहा! परद्रव्य की कुछ भी पर्याय को यह करता है, मैंने इसका उपकार किया, बड़े किये, इसलिए वृद्धावस्था में हमारी सेवा तो इसे करनी चाहिए न? ऐई! पोपटभाई! मानता है या नहीं ऐसा? पूरी दुनिया भ्रम में पड़ी है इसमें। आहाहा! हमने इसे पाल-पोसकर बढ़ा किया, पाप से पैसे पैदा किये थे, इसके लिये खर्च किये, विवाह किया। अब हम वृद्ध हो गये तो हमने इसका यह उपकार किया, यह हमारा करेगा। ऐसा अज्ञानी को भ्रम हो गया है। समझ में आया? ऐसा नहीं होगा? कान्तिभाई!

उनकी सम्पत्ति में... अर्थात् क्या? अज्ञानी अपना स्वभाव और परभाव दो की भिन्नता के भान बिना दो की एकताबुद्धि से, अध्यवसाय से यह दुःखी होता है। तथापि वह ऐसा मानता है कि इस स्त्री-कुटुम्ब की आबादी रहे। इसके पास लक्ष्मी रहे, सम्पदा रहे, अच्छे धन्धे में चढ़े, आमदनी करे। उसकी **(उपस्थिति में) वह संतोष...** मानता है। कहो, लड़के कमाते हैं ठीक से... करके। नहीं? पाँच-पाँच लाख रुपये आमदनी करे, रास्ता निकाल ले बुद्धि से, उसकी सम्पत्ति यह हो, ऐसा मानकर... कहते हैं न? आबादी। इसकी आबादी रहे। इसकी स्त्री, स्वयं, इसकी सम्पत्ति, इसकी इज्जत, इसके कारखाने।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कारखाने नहीं थे तो दूसरा व्यापार होगा। आहाहा!

उनकी सम्पत्ति में (उपस्थिति में) वह संतोष तथा उनके वियोग में महासंताप... आहाहा! **और आत्मबधादि करता है।** आत्मा का वध करता है। स्वयं अपना वध करता है। आहाहा! परन्तु कुदरत में ऐसा होगा या नहीं? लड़के हों अच्छे सब अच्छी स्थिति में हों, तो प्रसन्नता माने। नहीं?

मुमुक्षु : इसके बिना रह सके?

पूज्य गुरुदेवश्री : ...रह सकते हैं। देखो! पैसा, तथापि रहता है। इनके भाई की बात करते हैं। आहाहा! किसे कहना? धूल? आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। आराम

तो आतमराम में आराम है। आहाहा! सवेरे थे? दास। सवेरे नहीं थे? दोपहर में आये। समझ में आया? आहाहा!

अपने को सुख कब होगा? कि सुखस्वरूप आत्मा है। भगवान आत्मा में आनन्द है, उसके गुण में आनन्द है। ऐसे आनन्द का भाव, वह मुझमें है। ऐसा माननेवाले को पर्याय में आनन्द होता है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु पर की लक्ष्मी और सम्पदा को देखकर आबादी माने और उससे प्रसन्न हो तो वह मिथ्यात्व को सेवन करता है... आहाहा! सूक्ष्म बातें। वीतराग का मार्ग-सर्वज्ञ का, मार्ग बहुत सूक्ष्म है। समझ में आया?

अपने अतिरिक्त शरीर, वाणी, राग को अपना माने, उसकी कल्पना से वह दु:खी है। ऐसा दूसरे को भी उसकी सम्पदा अनुकूल रहे तो ठीक, ऐसा विभ्रम करके वह भी दु:खी होता है। उसकी सम्पत्ति लुट जाती है। लड़के निर्धन हो जाये, स्त्री मर जाये, शरीर में क्षय रोग लागू पड़े। हाय... हाय! बेचारे दु:खी हैं। परन्तु उसकी अनुकूलता से इसे सुख लगता है, यह अपनी कल्पना से लगता है और उसकी प्रतिकूलता हो तो दु:खी है, वह अपनी कल्पना से मानता है। आहाहा! गजब!

शरीर के साथ स्त्री-पुत्र के शरीर के सम्बन्ध को। शरीर के सम्बन्ध को। आत्मा के सम्बन्ध की तो खबर नहीं। आहाहा! यह मेरी पुत्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री। ऐसे उस शरीर को देखता है न! आत्मा अन्दर है, उसे कभी नहीं देखा। आहाहा! उसकी प्रतिकूलता देखकर इसे दु:ख होता है। इस शरीर की। समझ में आया? क्योंकि स्वयं भी पर में आत्मा कल्पित किया है, वह भी आत्मा शरीर में ही उसे मानता है। अपनी भाँति पर को मानता है। **स्त्री-पुत्रादि के शरीर सम्बन्ध को ही अपने आत्मा का सम्बन्ध मानते हैं।**

बहिरात्मा... बहिरात्मा की व्याख्या यह कि... पहले आ गया है। वास्तव में तो शरीर, वाणी, मन यह बाहर है-बहिर् है—उसे अपना मानता है। राग-द्वेष और दया, दान के भाव हों, वह भी बहिर् है—बाहर है। अन्तर का स्वरूप नहीं वह। उसे अपना माने। इसके अतिरिक्त वास्तव में तो बहिर्तत्त्व। कहा था तुमने, नहीं? ऊपर। ३८वीं गाथा (नियमसार)। '**जीवादिबहित्तच्चं हेयम्**'। देखो! कहा। ३८ गाथा। आयी है इस ओर।

जीवादि बहिर्तत्त्व की व्याख्या कि जीव का ध्रुवस्वरूप है, उसे छोड़कर, उसकी एक समय की जो अवस्था है, वह बहिर्तत्त्व है। राग, शरीर, वाणी, कुटुम्ब वह तो बहिर्तत्त्व है। आहाहा! परन्तु भगवानस्वरूपी ध्रुव चैतन्य पूर्णानन्द प्रभु, ऐसे अन्तर तत्त्व की-अन्तर स्वभाव की-अपेक्षा से एक समय की दशा को भी बहिर्तत्त्व कहा जाता है। आहाहा! इस बहिरतत्त्व को अन्तर तत्त्व मानता है कि यह मैं हूँ। समझ में आया? पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब वह तो बाह्य पृथक् बहिर्तत्त्व है। रागादि भी पर्याय में बहिर्तत्त्व है। आहाहा! परन्तु आत्मा की एक समय की पर्याय व्यक्त है। अनन्त गुण की प्रगट एक समय की अवस्था जो व्यक्त है, वह भी वास्तव में अन्तरात्मा पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप भगवान की अपेक्षा से तो एक समय की पर्याय भी बहिर्तत्त्व कही गयी है। आहाहा! जगत को... बहिर्तत्त्व हेयं। ऐसा आया है न? पढ़ा था, वहाँ? पढ़ा था न? कलकत्ता में पढ़ा था इसने ३८वीं गाथा। सभा सभा प्रसन्न.. प्रसन्न हो गयी। यह १६ वर्ष का लड़का है। तुम्हारे कितने हुए। ६१। ३८वीं गाथा पढ़ी उसने वहाँ सभा में, कलकत्ता। उसे तो .... बहिर्तत्त्वं हेयं। आहाहा! अन्तरंग तत्त्व उपादेयं। एक पद के दो शब्द हैं। है न ३८?

जिसे अपनी पर्याय के अंश में स्वयं (है, ऐसा) माना है तो दूसरे के उसके अंश में वह आत्मा है और वह शरीर में आत्मा है, ऐसा उसने माना है। समझ में आया? दूसरे के आत्मा में भी पर्याय में ज्ञान का क्षयोपशम देखकर यह आत्मा है, ऐसा मानता है। आहाहा! यह तो आ गया था न पहले? इन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। यह गाथा आ गयी है। इन्द्रिय के मुख से... यह पाँच इन्द्रियाँ, अरे..! खण्ड-खण्ड इन्द्रिय, इसके द्वारा बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। उसके द्वारा अन्तर का नहीं होता। आहाहा! इसी प्रकार वर्तमान पर्याय में जो कुछ ग्यारह अंग का शास्त्र का पठन, नौ पूर्व का पठन (हो), वह बहिर्तत्त्व है। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा उस प्रकार का विकास है। आत्मा द्वारा नहीं। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आत्मा की बात। वीतराग तत्त्व, उसमें भी दिगम्बर तत्त्व। दिगम्बर अर्थात् कि राग की वृत्ति बिना का भगवान, ऐसा आत्मा। आहाहा!

प्रभु आत्मा में, कहते हैं, अपनी पर्याय में जहाँ ज्ञान का कुछ क्षयोपशम बढ़ा

अर्थात् इसे ऐसा हो गया कि मैं बढ़ा। उस पर्याय को ही आत्मा माना है। समझ में आया? इसने बाह्य तत्त्व को ही आत्मा माना है। आहाहा! अन्तःतत्त्व पूर्णानन्दस्वभाव अन्तःतत्त्व। यह आता है न, भाई! नहीं? नियमसार में चौथी गाथा न? नहीं? बहिर्तत्त्व और अन्तःतत्त्व, उसे माने वह व्यवहार समकित है। दोनों इकट्ठे हुए न? क्या कहा? नियमसार में आता है, हों! नौ तत्त्व अथवा अन्तःतत्त्व परमात्मा और बहिर्तत्त्व पर्याय आदि। दो को माने वह अभी व्यवहार समकित, वह विकल्प है। समझ में आया?

अन्तरात्मा पूर्णानन्दस्वरूप। है न यहाँ? **तत्त्व बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व ऐसे (दो) भेदवाला है।** आहाहा! अन्तःतत्त्व परमात्मस्वरूप अपना, और बहिःतत्त्व पर्याय आदि। वह बहिःतत्त्व पर्यायादि आस्रव इत्यादि। अन्तरतत्त्व परमात्मा। दोनों को मानना, इसका नाम अभी विकल्प और व्यवहार समकित है। आहाहा! यह किसे? जिसे अन्तःतत्त्व जो शुद्ध चिदानन्द ध्रुव प्रभु, उसकी जिसे दृष्टि हुई है, अन्तःतत्त्व की दृष्टि हुई है, उसे परमात्म स्वरूप की दृष्टि हुई है। उसे निश्चय समकित है। उसे वह परमात्मतत्त्व और बहिर्तत्त्व दोनों की श्रद्धा करे, वह विकल्प और व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? शान्तिभाई! ऐसी वस्तु है ऐसी बहुत सूक्ष्म। भाग्यशाली भाई यह तो सुनने के लिये (आये)। आहाहा!

महा प्रभु अन्तर परमात्मा पूर्णानन्द का नाथ अन्तःतत्त्व तो परमात्मस्वरूपी ही अन्तःतत्त्व है। आहाहा! ऐसे अन्तःतत्त्व का अकेला अनुभवदृष्टि, इसका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है और इसके साथ अन्तःतत्त्व और बहिःतत्त्व पर्याय आदि की मान्यता का भाव, वह विकल्प है, राग है। आहाहा! अकेले को मानना, वह निर्विकल्प समकित है। आहाहा! और अकेले इकट्ठे दो को मानना, वह शुभराग है, वह व्यवहार समकित है; वह वास्तविक समकित नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह कहा न?

बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व ऐसे (दो) भेदवाला है अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं। ऐसी जो श्रद्धा वह व्यवहार समकित है। अर्थात् सच्चा समकित नहीं। आहाहा! सत्य समकित नहीं। गजब बात है! भगवान आत्मा पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... गुण से

पूर्ण स्वभाव से... ऐसी अन्तर में अन्तःतत्त्व में जहाँ दृष्टि पड़ी, तब अकेला निश्चय समकित उसे कहा जाता है। समझ में आया? यह जो अकेले अन्तःतत्त्व को छोड़कर, यह है और रागादि पर्याय है, ऐसा दोनों को माने एक साथ... आहाहा! अकेला छोड़कर दोकले के साथ उसे माने, कहते हैं। आहाहा! गजब बात है। तो भी वह व्यवहार समकित अर्थात् समकित नहीं ऐसा। आहाहा! कैसी बात करते हैं!

पूर्णानन्द प्रभु जिसकी शक्ति का सामर्थ्य अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त विभूता, अनन्त प्रमेयता, अन्दर प्रमाणता... आहाहा! ऐसी अनन्त शक्तियों का एकरूप अन्तःतत्त्व, उसमें दृष्टि जाना। क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन-श्रद्धा त्रिकाल पड़ी है, उसमें। समझ में आया? उसमें दृष्टि पड़ने से। आहाहा! उसका ऐसा ध्रुव नित्य स्वभाव परमात्मस्वरूप, उसका अन्तर में पर्याय में स्वीकार होने पर निश्चय सच्ची दृष्टि, सम्यक्दृष्टि, सच्चा तत्त्व उसे दृष्टि में आया। आहाहा! बाबूभाई! बातें बहुत कठिन, हों! जगत को लगती हैं। बाहर से मान लेते हैं कि देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, वह समकित। अब करो व्रत। धूल भी नहीं अब, सुन न! आहाहा! समझ में आया? जयन्तीभाई! सामायिक की होंगी या नहीं? की है। आहाहा! कहाँ सामायिक थी, भाई! अभी अन्तःतत्त्व वीतरागमूर्ति एकरूप वस्तु, उसके पक्ष में चढ़े बिना राग और पर्याय के पक्ष में खड़े रहकर जो कुछ करे, वह सब मिथ्यात्व की क्रिया है। आहाहा! यह तो जरा और याद आया। बहिः का अर्थ मात्र स्त्री-पुत्र, ऐसा नहीं। आहाहा! पड़ाव होवे न ऐसा सब।

कुण्डला में एक बार गये थे। फिर एक काठी है वहाँ, काठी। उसे कुछ होगा २०-२५ हजार की आमदनी। उस समय, हों! ७२-७३ के वर्ष। दो-तीन रानियाँ होंगी। किसी ने पूछा कि आपा! तुम्हारी रानी कितनी? तो कहे, मुझे खबर नहीं। कामदार को पूछो। गृहस्थ व्यक्ति और जो कुछ दे। २५ हजार की आदमनी तब तो बहुत कहलाती थी न? अब तो साधारण है। ... हो उपज। थोड़ी ...भले उसकी ६० वर्ष की उम्र हो, परन्तु ... रोटियाँ तो मिलेगी ठीक से। अब दो-तीन रानी रखते। उसे पूछे। हम निकलेगी तो पैर लगेंगी। महाराज! कुछ खबर नहीं मिलती। रानियाँ कितनी, इसके अंक की खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : राजा किसके लिये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूर्ख के। कामदार को पूछो, ऐसा कहे। इसी प्रकार इसे पूछे कि तू कौन है ? कहाँ है ? कि मुझे कुछ खबर नहीं। ऐसा यह मूर्ख है। शोभालालभाई ! ... समझ में आया ? आहाहा ! तू कहाँ है ? कौन है ? कैसे है ? मुझे कुछ खबर नहीं। आहाहा ! उसको रानियों की खबर नहीं, इसे घर की खबर नहीं।

प्रभु चैतन्यमूर्ति महा अतीन्द्रिय आनन्द के सागर का छलाछल भरा हुआ पदार्थ, ऐसा पदार्थ कौन है ? कहे, मुझे खबर नहीं। आहाहा ! ऐसे अन्त:तत्त्व के अनजान अज्ञानी बहिर्तत्त्व को अपना मानकर विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्व को उत्पन्न करते हैं। समझ में आया ?

अन्तिम पेरेग्राफ है न ? **बहिरात्मा, स्त्री-पुत्र-मित्रादि अनात्मीय अर्थात् पर होने पर भी,...** आहाहा ! अज्ञानी मूढ़ जीव, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि अथवा एक समय की पर्याय, वह निश्चय से तो अनात्मा है। आत्मा तो उसे कहते हैं, निश्चय त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु, वस्तु परमात्मस्वरूप विराजमान उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा ! ऐसे आत्मा को आत्मारूप से न मानकर, न जानकर बहि:तत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा ! पर्याय की दशा, वह वास्तव में वह भी व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा अर्थात् ? ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ हो, नौ पूर्व का लब्धि का ज्ञान हुआ हो। आहाहा ! विभंग हुआ हो। सात द्वीप और समुद्र जाने। वह पर्याय भी अनात्मा है। समझ में आया ? उसे मिथ्यादृष्टि (मानता है) कि मैं यह हूँ। इतना मैं हूँ। ऐसा माननेवाला मिथ्यात्व खड़ा करता है। आहाहा !

उन्हें आत्मीय मानता है और अपने को अनुपकारक होने पर भी,... आहाहा ! वास्तव में तो बाह्य के लक्ष्य से होता क्षयोपशमभाव... आहाहा ! वह भी बहिर्तत्त्व है। इन्द्रियों से जो कुछ ज्ञान हुआ, वह सब बहिर्तत्त्व है। आहाहा ! उसमें जिसकी आत्मबुद्धि है, वह उपकार हुआ नहीं, तो भी उसने मुझे उपकार किया है, (ऐसा मानता है)। आहाहा ! समझ में आया ? **उन्हें उपकारी मानकर... अपने को अनुपकारक होने पर भी,...** आहाहा ! कुन्दकुन्दाचार्य, उनका तत्त्व। समझ में आया ? पाठ में ही ऐसी गहराई भरी है।

भगवानस्वरूप आत्मा पूर्ण, अन्तर आत्मा जिसे कहते हैं, निश्चय आत्मा, वह आत्मा है। यह (नियमसार) ३८ गाथा में आता है। उस आत्मा को आत्मारूप से न जानकर एक समय की परसन्मुख के झुकाव में क्षयोपशमभाव... यह तो वहाँ कहा था। क्षयोपशमभाव वह आत्मा नहीं, वह तो कहा था। ४९ गाथा। '**अरसमरूवम्**' क्षयोपशमभाव से जाने, वह नहीं। आहाहा! उसके ओर के झुकाव से जो जाने, वह आत्मा नहीं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? पर्यायबुद्धि से जानता है। आहाहा! उसे दिशा पलटने के लिए बहुत जोर चाहिए। समझ में आया?

उनकी रक्षा का प्रयत्न करता है;... आहाहा! राग को रखने का और स्त्री-पुत्र को रखने का और बाह्य की ओर के क्षयोपशमज्ञान को रखने का प्रयत्न करता है। आहाहा! **उनके संयोगादि से सुखी होता है...** स्त्री, पुत्र, परिवार अनुकूल, शरीर ठीक, संयोग और बाहर की रुचि होने से ज्ञान होता है, वह भी संयोगी ज्ञान है। राग जैसे संयोगी भाव है, राग संयोगी कहा है न? इन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान, वह संयोगी ज्ञान है। क्योंकि वह टिकता नहीं। नाश हो जायेगा। आत्मा उनसे रहित हो जायेगा। आहाहा! ऐसे ज्ञान में ज्ञान की रक्षा और प्रयत्न करता है। आहाहा! **उनके संयोगादि से सुखी होता है और उनके वियोगादि से महासंताप मानता है तथा आत्मवध भी करता है।** अपना वध करता है। आहाहा!

विशेष :- शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है, उसे अपना जन्म-मरण मानकर, मैं उत्पन्न हुआ,... मेरे जन्म का यह दिन है। आहाहा! जन्म-जयन्ती करते हैं न? यह मेरा जन्मदिन। तेरा है? तेरा जन्म है? यह तो शरीर का हुआ। आहाहा! इस जन्म को अपना जन्म मानता है। आहाहा! **मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा—ऐसा मानता है। तथा शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है।** शरीर की अपेक्षा वही (इसके) साथ सम्बन्ध है, इसके आत्मा के साथ सम्बन्ध है? मर जाये अर्थात् शरीर में अरेरे! मेरा भाई मर गया, मेरा पिता (मर गया)। उसका आत्मा मर कर कहाँ गया, उसे पुकारता है कोई? कि यह बापू मर गये, वे कहाँ गये होंगे? पाप करके गया हो तो नरक में गया होगा। अन्यत्र कहाँ जाये? बहुत पाप न किये हो तो पशु में जाये। बहुत से तो पशु में जानेवाले हैं। पशु-पशु। यह पूछते हैं न कि मेरे पिता कहाँ

गये होंगे ? मेरे पिता की सुविधा की असुविधा गयी, उसे वह रोता है। समझ में आया ? अथवा भाई हो, लो न ! भाई की सुविधा जो थी वह गयी, उसे वह रोता है। भाई मरकर कहाँ गया उसका आत्मा ? कौन रोता है ? आहाहा !

कहते हैं, वह स्वयं शरीर उपजने पर मैं उत्पन्न हुआ, शरीर के जाने से मैं मरूँगा। **शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है।** देखा ! **जिसके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है;...** आत्मा को माता-पिता कैसे ? इसमें तो सब संसार उड़ा देना पड़े। पोपटभाई ! परन्तु अब बापूजी... बापूजी करे। छह-छह लड़के बैठे हों और दुकान में आमदनी अच्छी हो। आहाहा ! उसकी आबादी से आबादी है, ऐसा माने। गजब बातें हैं यह तो, बापू ! उनके अभाव में कि यह दु:खी होता है, शरीर की कल्पना से, यह स्वयं दु:खी मानता है। आहाहा ! वह इस प्रकार दु:खी होता है, ऐसा मानता है। स्वयं इस प्रकार मानता है न ?

जिसके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है;... यह मेरी जड़-धूल इसे स्त्री रमणी। रमणी कहलाती है न ? इसे रमावे भोग और विषय में। आहाहा ! भगवान तो अन्दर भिन्न रह गया। शरीर के साथ रमे, उसे अपनी रमणी मानता है। आहाहा ! और प्रवचनसार में आता है न ? दीक्षा जब लेनी होती है। अपना भान हुआ है कि मैं तो चैतन्य हूँ। मैं ज्ञायक आनन्द हूँ। अब मुझे आनन्द को साधने के लिये वनवास चाहिए है। आहाहा ! रमणी को कहता है कि हे इस शरीर को रमानेवाली रमणी ! ऐसा पाठ है। प्रवचनसार में तीसरे (अधिकार में)। शरीर को रमानेवाली रमणी ! तू मुझे रमण नहीं कराती। शरीर का रमण है। मैं अब मेरी अनादि आनन्दरूपी अनुभूति रमणी के पास जाता हूँ। आहाहा !

अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ भान हुआ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान में... आहाहा ! वह अब अतीन्द्रिय आनन्द की रमणी में रमने के लिये कहता है, स्त्री ! मुझे आज्ञा दे। आहाहा ! हमारी अनादि आनन्द अनुभूति की रमणी, उसके पास जाता हूँ। आहाहा ! उसे उग्र प्रगट करने के लिये मेरा प्रयत्न है। समझ में आया ? इस प्रकार अज्ञानी अपने शरीर को उपजानेवाले माता-पिता, शरीर को रमावे उसे रमणी मानता है।

शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र-पुत्री मानता है;... यह मेरा पुत्र है। शरीर

तो निमित्त था। हुए हैं तो उसके कारण से। उनके जन्म का काल शरीर का, उसके आत्मा और उसके शरीर के रजकण उसके कारण से वहाँ हुए हैं। यह मेरा पुत्र, यह आज्ञाकारी परिवार, ऐसा कहते हैं न? काठियावाड़ में ऐसा कहते हैं। महामूर्ख है, कहते हैं। बहिरात्मा है। आहाहा! जो चीज़ तुझमें नहीं, उसे तेरी मानता है और उससे तू प्रसन्नता में रमता है। आहाहा! विभ्रम है, मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व किसे कहना, यह लोगों को खबर नहीं। यह तो यह जरा अपने कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को नहीं मानना और सच्चे देव मानना, यह समकित। धूल भी नहीं, सुन न!

यहाँ तो कहते हैं, **शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र-पुत्री मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे अपना मित्र मानता है;...** शरीर को उपकारक। दुःख के काल में आकर खड़े रहें मित्रादि। किसे? इसे। भाई! मित्र है न! वह तो काम ही करे न! मित्र तो दुःख टालने में मददगार होता है। किसका दुःख परन्तु बापू! किसका? शरीर में दुःख के (टालने) लिये अनुकूल लगे, उसे मित्र माने। छोटे लड़कों को मित्र बहुत होते हैं। न बने फिर कट्टी करे। कट्टी ही है। पर के साथ सम्बन्ध था कब? यह तो स्वतन्त्र दूसरा आत्मा है। वह इसे उपकारी मानकर अपना मित्र मानता है।

जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है... आहाहा! शरीर पर चोट मारे, बिच्छु कटावे, डण्डा मारे। यह मेरा शत्रु है। भ्रमणा है, भाई! आहाहा! अरे! इसे कब आत्मा हाथ आवे? समाधि का अधिकार है न? यह सब असमाधि है। शरीर का बुरा करे, वह शत्रु। **इत्यादिरूप मान्यता होती है।** ऐसी मान्यता अज्ञानी की। फिर करता हो सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण। अज्ञान में है सब। सामायिक भी नहीं, प्रतिक्रमण भी नहीं और प्रौषध भी नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व को घोंटता है। बराबर है यह? **अधिक क्या कहें? जिस-तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है।** है न यह? मोक्षमार्गप्रकाशक गुजराती आवृत्ति पृष्ठ-८५ में से लिया। नीचे है। उसमें से लिया हुआ है। अभी दूसरा भाग आयेगा। ५४ पृष्ठ का।

तथा जैसे जहाँ वह पागल ठहरा था,... एक पागल मनुष्य बाहर जाकर कहीं

बैठा था। **वहाँ कोई अन्य मनुष्य आकर ठहरे,...** आये। दस बजने का समय हुआ और कोई निकला इसलिए वहाँ बरात ने पड़ाव डाला। हाथी हों, घोड़े हों,... कुछ पानी है नदी में पियेंगे और अपने खायेंगे, इकट्ठे पकवान लेकर आये हों। **मनुष्य, घोड़ा, धनादि कहीं से आकर ठहरे,...** गहने, जेवर आदि हों, लो न! **वह पागल उन्हें अपना जानता है।** नदी के किनारे गये, फिर बड़ा पत्थर हो, ऐसे बैठा। उसमें दस-साढ़े दस का टाईम। हाथी आये, घोड़े आये। राजा निकाल हो। आहाहा! देखो! मेरा राजा आया, देखो! मेरा हाथी आया। देखो! मेरा यह आया। ....

वे तो उन्हीं के अधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं,... पड़ाव डालकर करे जरूरत पड़ी हो न दूसरे गाँव चले गये हों कितने ही। **कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है।** आहाहा! कैसे चले जाते हो? हमारे यहाँ आये हो न? हमारे हो न? **उसी प्रकार यह जीव, जहाँ पर्याय (शरीर) धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र,...** आया। मरकर कहीं से आया हो? पशु में से आया हो। पुत्र मरकर ढोर में से आया हो, स्वयं मरकर ढ़ोर में से आया हो। अरे.. अरे! गजब!

पुत्र, घोड़ा धनादि कहीं से आकर स्वयं प्राप्त हुए,... देखा! आकर स्वयं प्राप्त होते हैं। उसके कारण से उसके परिणमन से वहाँ आये हैं। तेरे कारण से आये नहीं। तेरे होकर वे आये नहीं, तेरे होकर वे रहे नहीं। **वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं,...** जन्मे, ऐसा। आवे इसलिए। कि पैसा आवे। **कोई जाये...** मर जाये कोई और लक्ष्मी जाये। आहाहा! यह सब पर की चीज़ें आती और जाती है। तुझे उसके साथ सम्बन्ध है नहीं। परन्तु अज्ञानी को नहीं... नहीं... अरेरे! हमारा पुत्र गया, अब हमारा जीवन गया। एक बार कुछ लिखा था नहीं? उस कापड़िया ने। दर्शन कापड़िया। कैसा कापड़िया? मूलचन्द कापड़िया। पुत्र एक ही था न? मर गया। यह...! ऐसी कुछ भाषा लिखी। मेरा सब गया। फिर दूसरे को लिया है न, गोद लिया है डाह्याभाई को। खबर है। आहाहा! मर जाये। अरे रे! आज मेरा सब लुट गया। इकलौता लड़का हो बीस वर्ष का। पति भी जब पत्नी मरती हो, तब ऐसा मानता है कि यह हमारा घर गया। घर मानता है न? और पत्नी भी पति मरे तब कहे, अब हम दु:खी मर गये। हाय... हाय..! निराधार हो गये।

कौन पति और कौन पतिव्रता! कुछ खबर नहीं होती पर को। आहाहा! तूने अज्ञान से खड़ा किया हुआ सम्बन्ध अज्ञान से टूट जाता है, इसमें क्या है?

कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं;... कोई जन्मे, कोई मरे और अस्ति में अन्य अवस्था करे। वह रहे वहाँ अनेक अवस्था हो। वह सब पर के कारण है। तेरे कारण कहाँ थी वह? आहाहा! **यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है।** अन्तर में दाह, अन्तर में जलन। कोई नया जन्मे, नये पैसे आवें। नये अर्थात् एकदम नये पैदा करे, होवे। उसमें से कोई मरे, होवे उसमें से कोई जाये, होवे उसमें से कोई अन्य अवस्था वर्तमान रहकर हो। उन सबको मेरे कारण होता है, सब मेरी है। आहाहा! **उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है।** आहाहा!

श्लोक - १२

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह -

***अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।**
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥ १२॥

तस्माद्विभ्रमाद् बहिरात्मनि संस्कारो वासना दृढोऽविचलो जायते। किन्नामा? अविद्यासंज्ञितः अविद्यः संज्ञाऽस्य संजातेति ''तारकादिभ्य इतच्।'' येन संस्कारेण कृत्वा लोकोऽविवेकि-जनः। अंगमेव शरीरमेव। स्वं आत्मानं। पुनरपि जन्मान्तरेऽपि। अभिमन्यते॥१२॥

---

* मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो। मोहोदएण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ॥
अर्थात्, यह मनुष्य मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) मिथ्याज्ञान के द्वारा मिथ्याभाव से भाया हुआ फिर आगामी जन्म में इस अंग (देह) को अच्छा समझकर चाहता है।
(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-११, कुन्दकुन्दाचार्यः)

इस प्रकार के विकल्प से क्या होता है? वह कहते हैं :—

इस भ्रम से अज्ञानमय, जमते दृढ़ संस्कार।
यों मोही भव-भव करें, तन में निज निर्धार॥ १२॥

अन्वयार्थ - (तस्मात्) इस विभ्रम से, (अविद्यासंज्ञितः) अविद्या नाम का (संस्कारः) संस्कार, (दृढ़ः) दृढ़-मजबूत (जायते) होता है, (येन) जिस कारण से (लोकः) अज्ञानी जीव, (पुनः अपि) जन्मान्तर में भी (अंगम् एव) शरीर को ही (स्वं अभिमन्यते) आत्मा मानता है।

टीका - उस विभ्रम से बहिरात्मा में संस्कार अर्थात् वासना दृढ़ — अविचल होती है। किस नाम का (संस्कार)? अविद्या नाम का (संस्कार), जिसकी अविद्या संज्ञा है वह; जिस संस्कार के कारण अविवेकी (अज्ञानी) जन, अंग को ही, अर्थात् शरीर को ही फिर से भी अर्थात् अन्य जन्म में भी अपना आत्मा मानता है।

भावार्थ - इस जीव के अज्ञानजनित अविद्या संस्कार अनादि काल से है। स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करने से ये संस्कार मजबूत होते हैं और इनके कारण, अन्य जन्म में भी जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है।

अनादि अज्ञान के कारण यह जीव, जो पर्याय (शरीर) उसे प्राप्त होते हैं, उसे अपना आत्मा समझ लेता है और उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार, जन्म-जन्मान्तरों में भी बना रहने से दृढ़ होता जाता है। जैसे - रस्सी के घर्षण से कुएँ के पत्थर पर निशान अधिक से अधिक गहरा होता जाता है; वैसे ही अज्ञानी जीव में अविद्या के संस्कार भी अधिक से अधिक गहरे उतरते जाते हैं।

अविद्या के संस्कारों से प्रेरित यह जीव, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है; स्वयं को पर का कर्ता-भोक्ता मानता है; पर के प्रति अहंकार-ममकारबुद्धि और एकत्वबुद्धि करता है; इस कारण से इसको राग-द्वेष होते हैं और राग-द्वेष से इसका संसारचक्र चलता ही रहता है॥१२॥

श्लोक - १२ पर प्रवचन

इस प्रकार के विकल्प से क्या होता है? ऐसी भ्रमणा करने से क्या होता है? आहाहा!

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥ १२॥

इसका अन्वयार्थ लेते हैं। **इस विभ्रम से, अविद्या नाम का संस्कार, दृढ़-मजबूत होता है,...** मिथ्यात्व के संस्कार दृढ़ होते हैं। **जिस कारण से अज्ञानी जीव, जन्मान्तर में भी...** यह संस्कार लेकर मर जाये, वहाँ वह **शरीर को ही आत्मा मानता है।** आहाहा! चैतन्यमूर्ति है, ज्ञायकस्वभाव है, उसकी इसे अस्ति की खबर नहीं, इसलिए जहाँ यह मेरे... मेरे... मानकर संस्कार दृढ़ किये। वह मरकर आँख बन्द हुई, जहाँ दूसरा जन्मा, वहाँ यह संस्कार थे तो यह शरीर मेरा, इस शरीर के उपजानेवाले माता-पिता मेरे। इस शरीर को रमानेवाली स्त्री मेरी, इस शरीर को दुःख देनेवाले शत्रु, वे मेरे शत्रु हैं। और शरीर के उपकारक हों, वे मेरे मित्र हैं। ऐसा अज्ञानी के संस्कार वहाँ भी वापस काम करते हैं।

टीका - उस विभ्रम से बहिरात्मा में संस्कार अर्थात् वासना दृढ़—अविचल होती है। आहाहा! **अविचल होती है।** ऐसे संस्कार पड़ते हैं कि हटते नहीं। यह शरीर ही मैं, वाणी मैं, कर्म मैं, राज मैं, यह मेरे मित्र, माता-पिता मेरे, यह मेरा शत्रु... आहाहा! ऐसे मिथ्यात्व के संस्कार लेकर अन्यत्र जन्में वहाँ वापस इन संस्कार से पर को ही अपना मानता है। आहाहा!

किस नाम का (संस्कार)? इतना साधारण ... **अविद्या नाम का (संस्कार),...** अज्ञान। **जिसकी अविद्या संज्ञा है वह; जिस संस्कार के कारण अविवेकी (अज्ञानी) जन, अंग को ही, अर्थात् शरीर को ही फिर से भी अर्थात् अन्य जन्म में भी अपना आत्मा मानता है।** यह मैं। यह दिखता है वह मैं। देखनेवाला भी है, उसकी तो खबर नहीं होती। मेरे ज्ञान में जिसका अस्तित्व दिखता है और वह जाननेवाला टिक रहा है

इससे मैं हूँ। ऐसा सब तो भाई जाये कब ? जंगल में जाये और बाबा हो तब। वह कहता था, अमृतलाल है न ? प्रश्न नारद। ऐसा सब तुम कहते हो, वह तो हम जंगल में जायें तो यह सब हो। सबमें रहकर हमको ऐसा माना जाये ? कहाँ है परन्तु सबमें ? तूने माना है कि मैं सबमें हूँ। तू सबमें है नहीं। तू तुझमें है। आहाहा! शिवलालभाई! आहाहा!

तुझे सत्य श्रद्धा चाहिए हो तो जहाँ होगी वहाँ से मिलेगी न ? स्त्री, पुत्र, परिवार, देव-गुरु-शास्त्र वहाँ है श्रद्धा ? समझ में आया ? सत्य श्रद्धा, वह तो तेरे द्रव्य-गुण में है। तत्त्व रुचे, श्रद्धा, वह तो तेरे गुण में है। सत्‌रूप से श्रद्धा, वह द्रव्य में है। उसे अन्दर में शोध तो सत् श्रद्धा होगी। समझ में आया ? विभ्रम टले और भ्रमणा जाये और भगवान जगे। आहाहा! दूसरे से सम्यक् श्रद्धा कहीं से यहाँ है... यहाँ है.. ? आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि देव-गुरु और शास्त्र जो है, वह परपदार्थ है। और पर को मेरा मानना, वह धर्म नहीं है। पर है वह। आहाहा! इस प्रकार के जो संस्कार लेकर जन्मे तो वह संस्कार जो भविष्य में भी वापस वही अपने को मानेगा। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)